सूर्य की ओर उड़ान

भगवान् श्री रजनीश

सम्पादन :
स्वामी दिनेश भारती

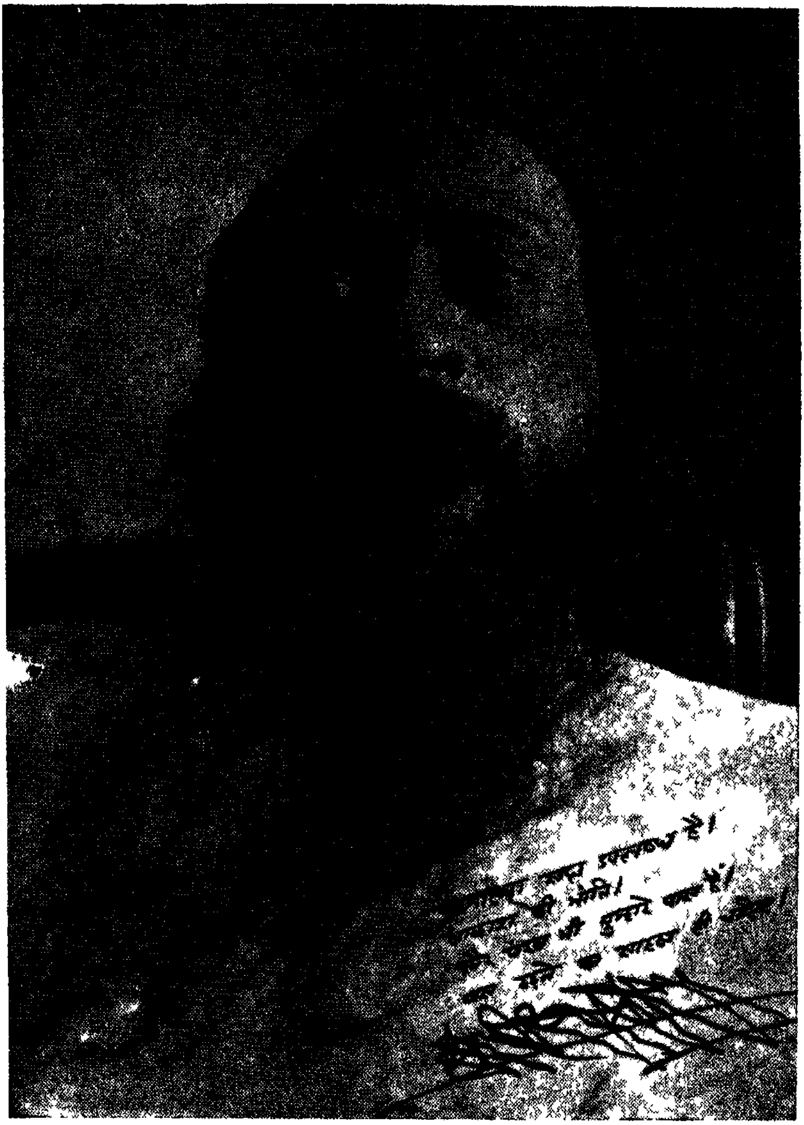
● प्रकाशक :
अनामिका प्रकाशन
स्वामी दिनेश भारती
ब्रह्मदेव भवन, पुरन्दरपुर,
पटना-१ (बिहार)

● संस्करण द्वितीय :
मार्च १९७४

● आवरण-सज्जा
अंकुश्री

● मूल्य : दो रुपये

● मुद्रक :
श्री श्याम प्रेस,
मोहानीपुर, पटना-३



भगवान श्री रजनीश

अंधकार से आलोक की ओर

अभी-अभी आपकी तरफ आने को घर से निकला। सूर्य का किरणजाल चारों ओर फैल गया है और वृक्ष पक्षियों के गीतों से गूंज रहे हैं। मैं सुबह के इस संगीत में तल्लीन था कि अनायास ही मार्ग के किनारे खड़े सूर्यमुखी के फूलों पर दृष्टि गई। सूर्य की ओर मुंह किये हुए, वे बड़े गर्वोन्नत खड़े थे। उनकी शान देखने ही जैसी थी! उनके आनन्द को मैंने अनुभव किया और उनकी अभीप्सा को भी पहचाना। मैं उनके साथ एक हो गया और पाया कि वे तो पृथ्वी के आकाश को पाने के स्वप्न में हैं। अंधकार को छोड़कर वे आलोक की यात्रा पर निकले हैं। मैं उनके साहस का गुणगान करता-करता ही यहां उपस्थित हुआ हूं और उनकी सफलता के लिए हजार-हजार प्रार्थनायें मेरे हृदय में घनीभूत हो गई हैं।

विकास ही है जीवन

और अब मैं सोच रहा हूं कि क्या मनुष्य भी ऐसे ही सूर्य को नहीं पाना चाहता है? क्या उसके प्राण भी आलोक के मूल स्रोत से एक होने को नहीं छटपटाते हैं? क्या वह भी एक बीज नहीं है जो कि पृथ्वी के अंधकार भरे गर्भ को छोड़ विराट आकाश को पाने के लिये लालायित है?

बीज वृक्ष होना चाहता है। अणु विराट होना चाहता है। विकास ही जीवन है। और जब बीज वृक्ष नहीं हो पाता है, तो स्वाभाविक ही है कि उसके प्राणों में रुदन हो और उसकी आत्मा आकाश न पाने की पीड़ा अनुभव करे। क्या मनुष्य का दुःख भी ऐसा ही दुःख नहीं है? मनुष्य का मूल संताप यही है कि वह सूर्य की ओर अपना मुंह नहीं उठा पाता है और उसकी आत्मा अपने पंखों को खोल अनन्त आकाश के लिए उड़ान नहीं भर पाती है। यही है उसकी पीड़ा, चिन्ता और रुग्णता। यही है उसकी अशांति। आकाश की स्वतन्त्रता को उपलब्ध न कर पाना ही संसार है, बंधन है।

परिधि पर जीना अधर्म

परन्तु इसी संताप में 'सत्य' की यात्रा का शुभारम्भ छुपा हुआ है। जीवन जैसा है, उससे संतुष्ट हो जाना शुभ नहीं है। जो उससे संतुष्ट हो जाता है, वह विकसित ही नहीं होता। विकास तो है असंतोष में। कली,

कली होने से ही संतुष्ट हो, तो फिर फूल का जन्म कैसे होगा ? गहरे असंतोष और उत्कट अतृप्ति में ही प्राण सजग होते हैं और उनमें प्रसुप्त ऊर्जा जागती है और आत्म सृजन में संलग्न होती है।

इसलिये, स्मरण रहे कि असंतोष की अनुभूति दिव्य अनुभूति है और जीवन को उसके केन्द्र तक ले जाने वाली आधारभूत शक्ति भी वही है। परिधि के जीवन से सन्तुष्ट हो जाने को ही मैं अधर्म कहता हूं। इसके अतिरिक्त कोई पाप नहीं है। परमात्मा की उपलब्धि के पूर्व जो भी जीवन पथ पर मनुष्य को रोकने में सर्वाधिक समर्थ है; वह है, आलस्य और यही आलस्य संतोष के रुप में प्रकट होता है। पुरुषार्थ तो जन्मजात असंतोष है। और जहां पूर्ण असतोष है, वहीं पूर्ण पुरुषार्थ है। जीवन के प्रति पूर्ण असंतोष को जो अनुभव करता है, वही अपनी यात्रा को परमात्मा तक ले जाने में समर्थ होता है। बीज की यात्रा वृक्ष तक है। मनुष्य की यात्रा परमात्मा तक है।

प्रेम ही है परमात्मा

मैं आपमें भी इस प्यास को देख रहा हूँ। आपकी मौन आंखों में वह सब मेरे समक्ष सपष्ट हो उठा है जो कि आपमें अकुरित होना चाहता है। आपकी प्यास ही आपके हृदयों को पारदर्शी बना रही है। और जिस दिन से मैंने स्वयं में देखा है, उस दिन से ही सबमें देखने की आंख भी उपलब्ध हो गई हैं। भीतर 'स्व' और 'पर' में कोई भेद नहीं है।

वृत की परिधि पर बिन्दु-बिन्दु में कितनी दूरी हो, किन्तु केन्द्र पर तो कोई भी दूरी नहीं रह जाती है। और इससे ही ज्ञान अन्ततः प्रेम बन जाता है और प्रेम ज्ञान बन जाता है।

ज्ञान जहां नहीं है, वहां प्रेम भी नहीं है और जहां प्रेम नहीं है वहीं दुःख है। प्रेम का अभाव दुःख है। उस अभाव में ही प्राण पीड़ा से भर जाते हैं और जीवन अस्वस्थ हो जाता है। प्रेम स्वस्थ है क्योंकि प्रेम स्वयं की उपलब्धि है।

सूर्यमुखी होने का सौभाग्य

लेकिन, वह ज्ञान कहां है जो कि प्रेम बन जाता है ?

ज्ञान है वहां, जहां कि सूर्य की ओर आंखे हैं। 'सत्य' की ओर

आंखें करते ही जीवन आलोक से भर जाता है। किन्तु अधिक लोग जीवन भर सत्य की ओर पीठ किये ही खड़े रहते हैं। और सूर्य की ओर जिसकी पीठ है, उसकी स्वयं की छाया ही उसके लिए अन्धकार बन जाती है।

हम स्वयं ही हैं अपने अन्धकार या आलोक। किस दिशा में हमारी आंख है, इस पर ही सब कुछ निर्भर है। हम चाहें तो सूर्यमुखी होने का सौभाग्य पा भी सकते हैं और चाहें तो खो भी सकते हैं।

प्रकाश से विमुखता के कारण अन्धकार

मैं अपने ही अनुभव से यह कहता हूं: अन्धकार में था, तो जहां तक दिखायी देता था, अन्धकार ही अन्धकार दिखायी देता था। उसे मिटाने का कोई भी प्रयास सफल नहीं हुआ। बहुत उससे लड़ा, लेकिन असफलता के अतिरिक्त और कुछ भी हाथ नहीं आया। लेकिन असफलता और सतत पराजय से मैं निराश नहीं हुआ, वरन् यही जाना कि शायद मेरी दिशा ही भ्रांत है। और पाया कि दिशा गलत थी। अन्धकार था क्योंकि मैं ही प्रकाश से विमुख खड़ा था। वह अन्धकार मेरी छाया थी। प्रकाश की विमुखता से ही उसका जन्म हुआ था। अपने आप में उसकी कोई सत्ता न थी। और उसे मिटाने के लिये चाहे मैं कुछ भी क्यों न करता, वह सब निष्फल जाता। क्योंकि जो नहीं है, उसे मिटाया नहीं जा सकता है।

सूर्य की ओर आंखें होना आवश्यक

असत्तावान से लड़ने से अधिक अज्ञानपूर्ण और क्या हो सकता है। लेकिन हम सभी छायाओं से लड़ते हैं और यही कारण है कि हमारा जीवन एक अंधेरी छाया होकर निःसत्व हो जाता है। जीवन की उपलब्धि सदा ही विधायक की दिशा में है। अभाव से संघर्ष जीवन में नहीं, मृत्यु में ही ले जाता है। उसे पाना है, 'जो है' और उसे छोड़ना है, 'जो नहीं है।'

जैसे ही यह तथ्य मुझे दिखा, मैंने असत्य की और अन्धकार की चिन्ता छोड़ दी और आंखें उस ओर उठाईं जो कि सत्य है, आलोक है। और मुड़ते ही जाना कि समस्त अंधकार मात्र इस बात की सूचना थी कि मेरी पीठ सूर्य की ओर थी और मेरी आंखें सूर्य की ओर नहीं थीं।

जीवन दिशा के परिवर्त्तन से प्रकाश की यात्रा

मैं आपसे भी पूछना चाहता हूँ—क्या आप अंधकार में हैं? क्या आपके चारों ओर भी अमावस की रात्रि घिरी है? यह एक इंगित है—एक सूचना है। आप जिस दिशा में खोज रहे हैं, उस दिशा में सूर्य नहीं है।

....और इस सत्य को जानते ही एक क्रांति हो जाती है। क्योंकि तब अंधकार या आलोक हमारी जीवन-दृष्टि के प्रतीक मात्र रह जाते हैं। अंधकार को नष्ट नहीं करना है। वह तो जीवन दिशा के परिवर्त्तन से स्वतः ही विलीन हो जाता है और न ही आलोक को कहीं से लाना ही है, वह तो नित्य ही उपस्थित है। हमें तो मात्र उसकी ओर आँख उठानी हैं और उसके लिए अपने हृदय के द्वार खोलने हैं।

वह जो कि सदा ही है, हृदय के द्वार बंद होने मात्र से खो जाता है और हृदय के द्वार खुलने से ही पुनः उपलब्ध हो जाता है। सत्य को कहीं से लाना नहीं, बस स्वयं को ही खोलना है। सूर्य को कहीं खोजना नहीं, बस अपनी आंखें ही मोड़नी और खोलनी है।

प्रकाश विरोधी आखें अन्धी

जगत् में दो ही भाँति के व्यक्ति हैं—सूर्योन्मुख और सूर्य से विमुख। पौधे जैसे सूर्य से विमुख हों, तो जीवन को खो देते हैं। ऐसे ही वे व्यक्ति भी जीवन के रस और अर्थ से वंचित हो जाते हैं जो सूर्य की विरुद्ध दिशा में यात्रा करते हैं और क्रमशः गहन से गहन अधकार-पथो पर भटक जाते हैं। स्वभावतः ही उनका जीवन दुःख, पीड़ा और आत्मिक दारिद्र्य से भर जाता है। उनके हृदय दीन-हीन हो जाते हैं और अंधी कामनाय उन्हें चिर-भिखारी बना देती हैं। उनके पास सब कुछ भी हो, तो भी उनके पास कुछ भी नहीं होता। वे स्वयं ही अपने पास नहीं रह जाते हैं। सब पाने के ख्याल में स्वयं को ही खो देते हैं और स्वयं को गवाँ देने से बड़ा न कोई संकट है, न कोई विपदा है।

प्रकाश के विरोध में जीने से आंखे अंधी हो जाती हैं और जड़े सड़ जाती हैं। प्राण पाषाण बन जाते हैं और प्रेम के स्रोत सूख जाते हैं। ऐसी आत्मायें, अधकार के पक्षियों की भाँति आलोक से भयभीत रहने लगती हैं। और उनका जीवन एक लम्बा दुःख स्वप्न हो जाता है। रात्रि की विषाक्त और मूर्च्छित निद्रा को ही वे जीवन मान लेती हैं और दिवस का जाग्रत जीवन उन्हें बिस्मरण ही हो जाता है। ऐसा जीना नाम-मात्र को ही जीना

है। यह जीना झूठा ही है। वस्तुतः सूर्य से विमुख होकर कोई भी जीवन नहीं है।

चैतन्य का केन्द्र स्वयं में

धर्म का आमंत्रण सूर्योन्मुख होने का आवाहन है। सूर्य की ओर आंखों को उठाना है। लेकिन सूर्य कहां है? इस पर हम विचार करेंगे। उन कारणों पर भी विचार करेंगे जो कि सत्य के आलोक तक पहुंचने में बाधा है और जिनके कारण चित्त मुक्त होकर 'सूर्य की ओर उड़ान' नहीं भर पाता।

सूर्य स्वयं के भीतर है। बाहर होना सूर्य के विमुख होना है। बाहर की यात्रा अंधकार की यात्रा है।

ज्ञान का स्रोत स्वयं में है। चैतन्य का केन्द्र स्वयं में है। स्वयं की आत्यंतिक गहराई में ही वह है, जिसे पाने से और सब पाने की वासनाओं से मुक्ति हो जाती है। सत्य को जानने का द्वार स्वयं को उसकी पूर्णता में जान लेना ही है।

किन्तु सत्य के सम्बन्ध में तो बहुत मत हैं, बहुत सिद्धांत हैं, बहुत शास्त्र हैं और इनका जाल ही व्यक्ति को उलझा लेता है और उसके चित्त को ऐसा घेर लेता है कि वह सत्य के साक्षात् में असमर्थ ही हो जाता है।

सत्य है जीवन्त अनुभूति

सत्य (परमात्मा) के संबन्ध में जो सिद्धान्त हैं, वे स्वयं सिद्धान्त नहीं हैं।

सत्य को दिये गये जो शब्द हैं, वे स्वयं सत्य नहीं हैं।

और सत्य के संबन्ध में जो शास्त्र हैं, वे सत्य के नहीं, वरन् सत्य के सबन्ध में मतों के संग्रह हैं।

सत्य यह है कि सत्य को शब्द से कहा ही नहीं जा सकता। सत्य है जीवन्त अनुभूति, शब्द हैं मृत अभिव्यक्तियां। मृत, जीवित को प्रकट करने में समर्थ नहीं है।

इसलिये सत्य की खोज में सबसे पहले समस्त मतों से मुक्त होना आवश्यक है। मत सत्य नहीं, सत्य का आभास है। किसी भी मत को मानना चित्त को पक्ष में बांधना है। जहां पक्ष है, वहां पक्ष का आग्रह है। जबकि सत्य का आग्रही पक्ष का आग्रही कैसे हो सकता है? पक्षपातग्रस्त चित्त अपने पक्ष को सत्य के भी

ऊपर रखता है। सत्य को वह अपने पक्ष के अनुकूल ही चाहता है और यह बात ही जड़तापूर्ण है। सत्य को हमारे अनुकूल नहीं, वरन् हमें ही सत्य के अनुकूल होना पड़ता है। किन्तु मताग्रही की ऐसी तैयारी नहीं होती। इसलिये वह अपनी धारणाओं को ही सत्य सिद्ध करने की चेष्टा में नष्ट हो जाता है : सत्य तो सिद्ध है ही। उसे क्या सिद्ध करना है। जो स्वयं को समस्त मतों, वादविवादों और पक्षों से शून्य करता है, वह निष्पक्ष होकर सत्य के आगमन के लिये स्वयं में मार्ग दे देता है।

साम्प्रदायिकता मनुष्यता के लिये घातक

मनुष्य ने अपनी लम्बी यात्रा में मतों और पक्षों, सम्प्रदायों और पंथों का बहुत सा कूड़ा-करकट इकट्ठा कर लिया है। मनुष्य तो पैदा होते हैं लेकिन फिर मरने का नाम नहीं लेते! उनकी लाशें सुरक्षित रख ली जाती हैं और उनकी पूजा जारी रहती है। इस भांति हम अतीत से मुक्त नहीं हो पाते हैं। और प्रत्येक पीढ़ी नई पीढ़ी को पुरानी परम्पराओं की जंजीर वंशाधिकार में भेंट कर जाती है। प्रत्येक नवागन्तुक पैदा तो स्वतंत्र होता है, लेकिन पैदा होते ही संप्रदायों में परतंत्र हो जाता है। इसके पूर्व कि उसमें स्वयं की विचारणा जागे और विवेक पैदा हो, उसके चित्त को सत्य के सम्बन्ध में किन्हीं धारणाओं से भर दिया जाता है। विवेक जागरण के पूर्व ही ईश्वर और आत्मा और जीवन के संबंध में कुछ विश्वास उसमें संस्कारित कर दिये जाते ह। यह प्रचार बहुत सूक्ष्म है। इसके ही कारण पृथ्वी पर ईसाई हैं, हिन्दू हैं, जैन ह, बौद्ध हैं, मुसलमान हैं, लेकिन मनुष्य नहीं हैं। यह दुर्भाग्य बहुत गहरा है और यह दुर्घटना बहुत संघातक है। इसके कारण ही न तो हम ठीक से मनुष्य होने में समर्थ हो पाते हैं और न ही हमें मनुष्यात्मा में निहित सत्य (परमात्मा) का साक्षात् हो पाता है। मनुष्यात्मा को जानने से पहले कम से कम मनुष्य होना तो अनिवार्य है।

संस्कारों से कैद हमारा चित्त

सत्य की खोज सांप्रदायिक चित्त को लेकर असंभव है। उसके लिये तो पूर्णत: असाम्प्रदायिक चित्त की भूमिका आवश्यक है। साम्प्रदायिक चित्त तो दासता में बधा होता है। शरीर को जो लौह शृङ्खलायें बांध सकती हैं; वे इतनी सुदृढ़ नहीं होतीं, जितनी की विचारों की शृङ्खलायें जो कि मन

को बांध लेती हैं। मन की गुलामी की असल जड़ इस तथ्य में निहित होत ह कि हमें उस गुलामी का बोध ही नहीं रह जाता है। वह हमारे अवचेतना में ही प्रविष्ट हो जाती है और हम उसके आदी और अभ्यस्त हो जाते हैं। जैसे खून में कोई जहर मिला दिया गया हो, ऐसे ही परम्परागत संस्कार हमारे चित्त को कैद कर लेते हैं। लेकिन बोध के अभाव में ही जिस बंधन की शक्ति है, वह बोध के आगमन के साथ ही स्वत: क्षीण होने लगती है। जैसे-जैसे हम अपनी मानसिक दासता को पहचानते और परिचित होते हैं, वैसे-वैसे ही उसकी पकड़ हमारे ऊपर ढीली होने लगती है। लेकिन यदि इस दासता को ही हम स्वतंत्रता समझते हैं और सम्प्रदायों को ही सत्य, तब तो उनसे मुक्ति का कोई उपाय ही नहीं रह जाता है।

धर्म के नाम पर प्रचलित सभी सम्प्रदाय, संगठन और चर्च स्वयं के ही एक मात्र सत्य होने का दावा व्यर्थ ही नहीं करते हैं। इस दावे और प्रचार में ही तो उनके प्राण छिपे हुए हैं। इसके आधार पर ही तो वे जीते हैं और शोषण करते हैं। यह दावा ही मनुष्य के ऊपर उनकी प्रभुता का मूल आधार है। इसलिये ही इस दावे को वे किसी भी मूल्य पर नहीं टूटने देना चाहते हैं और इसे परिपुष्ट करने के लिये सभी भांति के उपाय करते हैं। इसके ही कारण उन सभी ने अपने-अपने ग्रंथों को ईश्वरीय कहा है। इन शास्त्रों की जकड़ मनुष्य पर ढ़ीली न होने पावे, इसके लिये इनसे अधिक सुदृढ़ और कौन सी भित्ति हो सकती है? प्रभुता और अधिकार की आकांक्षा ने मनुष्य को परतंत्र रखने की बहुत सी तरकीबें इजाद की हैं। इन तरकीबों और प्रचार से जो अपने को सर्वांशतः मुक्त नहीं करता, वह सत्य को जानने की आशा भी नहीं कर सकता है।

विश्वास है अंधापन

धर्म को पाने के लिये धर्मों से मुक्त होना होता है।

धर्म तो बहुत हैं लेकिन उन सभी को दो वर्गों में बांटा जा सकता है। वे दो वर्ग हैं: आस्तिक और नास्तिक। सत्य के संबन्ध में जहां भी किसी भांति की धारणा को मानने का आग्रह है, वहीं पंथ है और पांथिक दृष्टि है। जबकि सत्य को मानने का प्रश्न ही नहीं है। प्रश्न तो उसे जानने का है।

सत्य का विश्वास नहीं करना है विवेक को जगाना और सत्य को जानना है। विश्वास तो अंधापन है। फिर वह विश्वास चाहे किसी का भी क्यों न हो। अविश्वास भी अंधापन है। आंखे तो मात्र विवेक से ही खुलती हैं।

चित्त संयम से स्वतंत्रता का आविर्भाव

मैं न तो आस्तिकता में मार्ग देखता हूं, न नास्तिकता में। वे दोनों तो एक ही अंधेपन के पेंडुलम की दो स्थितियां हैं। वे दोनों एक दूसरे की प्रतिक्रियायें ह। उन दोनों में से किसी की भी धारणा को पकड़ना घातक है। वस्तुत: तो धारणा-मात्र को ही पकड़ना घातक है। किसी भी धारणा को स्वीकार या अस्वीकार करते ही चित्त बंध जाता है, सीमित हो जाता है और अपनी स्वतंत्रता खो देता है।

इसलिए न तो कुछ स्वीकार करना है और न ही अस्वीकार करना है, वरन् स्वीकार और अस्वीकार दोनों को ही छोड़ देना है। चित्त संयम के इस बिन्दु पर ही स्वतन्त्रता का आविर्भाव होता है। और स्वतन्त्रता सत्य तक ले जाती है।

साम्प्रदायिक मन का सत्य से कोई सम्बन्ध नहीं

मनुष्यता सत्य के सम्बन्ध में की गई धारणाओं के कारण खंडित हो गयी है। लेकिन सत्य, सर्व एक कर देता है। धारणायें तोड़ती ह। सत्य जोड़ता है। मनुष्य और मनुष्य के बीच सम्प्रदायों की दीवारों के अतिरिक्त और कौन सी दीवारें ह? और जितना अहित इन दीवारों ने किया है और किसी दूसरी चीज ने किया है? लेकिन निश्चय ही आप भी किसी न किसी पंथ, किसी न किसी धर्म, किसी न किसी सम्प्रदाय में खड़े होंगे! आप भी किसी मंदिर, किसी शिवालय या किसी चर्च के अनुयायी होंगे। किसी शास्त्र या आगम पर आपका भी विश्वास होगा। किसी विश्वास के घेरे में आप भी आबद्ध होंगे। और फिर भी आप सत्य को पाना चाहते ह? क्या इन दोनों तथ्यों में स्पष्ट ही विरोधाभास नहीं है? क्या किसी सम्प्रदाय में होना और सत्य की आकांक्षा करना विष को ही अमृत समझना नहीं है? स्मरण रहे; कि इस पृथ्वी पर सभी कुछ संभव है। लेकिन साम्प्रदायिक मन सत्य को पा ले यह सम्भव नहीं है।

धर्म, सांयोगिक नहीं सनातन

मैं एक गाँव में गया था। कोई वृद्ध वहां मुझसे बोले—"मैं हिन्दू हूं।" मैंने उनसे पूछा कि यह हिन्दू या मुसलमान होना क्या है? क्या ये सब बातें हमें दूसरों के द्वारा ही नहीं सिखा दी जाती ह? क्या कोई व्यक्ति हिन्दू या मुसलमान पैदा होता है? समाज जो धारणायें देता है, सदा उनमें ही बँधे रहना प्रौढ़ता का लक्षण नहीं है। धर्म का सम्बन्ध सांयोगिक घटनाओं से नहीं है। वह तो उस सनातन स्वरूप से सम्बन्धित है, जो कि सबमें है और जिसकी न कोई जाति है, न कोई देश है और न कोई रंग और लिंग है।

मित्र, जो व्यक्ति स्वयं को किसी घेरे में बाँध लेता है, वह उस तक कैसे पहुँचेगा जिसका कि कोई घेरा नहीं है? और जो व्यक्ति किसी धारणा को पकड़ लेता है, वह उसे कैसे जानेगा जिसकी कि कोई भी धारणा सम्भव नहीं है? हमें जो ज्ञात है, उस पर रुके रहने से अज्ञात नहीं जाना जा सकता है।

सागर की अनन्त यात्रा पर जिसने जाना चाहा ह, उसे किसी किनारे से अपने को बाँध रखने का कोई उपाय नहीं है।

साहस के अभाव में सत्य की यात्रा असंभव

क्या मैं पूछ सकता हूँ कि किनारे पर बने रहना; और सागर में जाना भी, दोनों एक साथ कैसे संभव हो सकते ह? अज्ञात सागर की खोज के लिए ज्ञात तट तो छोड़ने ही होंगे। उनका मोह जिसे है, वह अपनी नौका को यात्रा के लिए कभी खोल ही नहीं सकेगा। तट ही उसकी कब्र बनेंगे और सागर की यात्रा केवल स्वप्न ही रह जायेगी। बहुत लोग ऐसे ही स्वप्न देखते-देखते ही मर जाते हैं, क्योंकि अज्ञात की यात्रा का साहस जुटाना उन्हें सम्भव नहीं हो पाता है।

सागर में चलना है, तो तट छोड़ो और सागर में गहरे चलना है तो सतह छोड़ो। सतह पर लहरें ही लहरें है, मोती तो गहरे में ह। सत्य पाना है तो पक्ष छोड़ो, क्योंकि निष्पक्ष हुए बिना कोई भी सत्य के पक्ष में नहीं हो सकता है।

सीखे हुए उत्तर सत्य नहीं

मनुष्य की सत्य की खोज में, उसकी जिज्ञासा में, सबसे बड़ी बाधायें वे शब्द और शास्त्र हैं जो कि उसने सीख रखे हैं और जिन्हें सत्य मानने का वह आदी हो गया है। सीखे हुए विचार और विचारधारायें स्वयं के विचार के जन्म में अवरोध बन जाते हैं। उनमें दबकर स्वयं की विचार करने की शक्ति धीरे-धीरे मृतप्राय हो जाती है। उसके उपयोग का अवसर ही नहीं आ पाता। उधार ज्ञान ही जब काम दे देता हो, तो स्व ज्ञान की आवश्यकता ही क्या रह जाती है?

मैं यदि आपसे पूछूँ कि ईश्वर है? तो आप जो भी उत्तर देंगे, क्या वह सीखा हुआ ही नहीं होगा? और तब क्या वह उत्तर भी असत्य ही नहीं होगा? जीवन के सम्बन्ध में सीखा हुआ उत्तर सत्य कैसे हो सकता है?

सीखा हुआ परमात्मा किस काम का ?

जीवन में जो भी सीखने योग्य है, वह किसी से भी नहीं सीखा जा सकता है। उसे तो स्वयं ही जानना होता है। फिर चाहे वह प्रेम हो या कि प्रार्थना हो, सत्य हो या कि सौन्दर्य हो। लेकिन हमने तो ईश्वर को भी सीख रखा है! इससे ज्यादा पागलपन की बात क्या कोई दूसरी भी हो सकती है? किन्तु इन सीखे हुए थोथे उत्तरों पर ही हम जीवन को निर्मित करते हैं और तब यदि एक दिन हवा का जरा सा झोंका ही हमारे ज्ञान के सारे भवन को भूमिसात कर देता हो, तो क्या कोई आश्चर्य है? जो ईश्वर को जानना और पाना चाहते हैं, उन्हें दूसरो द्वारा सिखाये गये ईश्वर को भूलना पड़ता है।

स्वयं की सत्ता में ही सत्य का मार्ग

वह सत्य, सत्य नहीं है जो कि स्वयं मेरे ही हृदय ने जाना और जिया नहीं है। और न ही वह प्रेम, प्रेम है जो कि मेरे ही हृदय की पीड़ा से आविर्भूत न हुआ हो। और न ही वह प्रार्थना, प्रार्थना है जिसमें कि मेरे ही प्राण स्पंदित न हो रहे हों। जब मैं स्वयं ही आमूल परिवर्तित हो जाता हूं, तभी वह द्वार मेरे सामने आता है, जो कि परमात्मा के मंदिर का है। स्वयं की सत्ता के अतिरिक्त सत्य का कोई और मार्ग नहीं है।

इसलिये सीखे हुए ज्ञान को भूलना पड़ता है ताकि उसका अनावरण हो सके, जो कि स्वयं में ही छिपा है और जिसे सीखने की कोई भी जरुरत नहीं है। स्वयं में जो अनसीखा है. वही स्वरुप है। और स्वरुप वही है, जो कि बाहर से नहीं लाया गया है और सदा से स्वयं में ही है, स्वयं ही है।

आरोपण नहीं अनावरण

हम जो भी सीख लेते हं, उसे ही खोजने लगते हैं और ऐसी खोज प्रारम्भ से ही भ्रांत हो जाती है। क्योंकि ऐसी खोज अनावरण नहीं, बल्कि आरोपण बन जाती है। सत्य पर हम अपनी सीखी हुई धारणा का आरोपण करने लगते हैं। हम सत्य पर स्वयं को ही थोप देते हैं और तब जो अनुभव होते हैं, वे सत्य के नहीं, हमारी ही धारणाओं के, हमारी ही कल्पनाओं के होते हैं। राम, कृष्ण, क्राइस्ट, बुद्ध या महावीर के अनुभव कठिन नहीं ह। उन्हें साकार देख लेना भी कठिन नहीं है। लेकिन वह सब हमारे चित्त की धारणाओं और आत्म-सम्मोहन का खेल है। सत्य से उन अनुभूतियो का दूर का भी संबंध न है, न हो सकता है।

स्व ज्ञान के लिये धारणाओं से मुक्ति आवश्यक

सत्य के निकट तो केवल वे ही जा सकते हं, जिनके चित्त सब भांति की धारणाओं के वस्त्रों को त्याग कर नग्न हो चुके हैं और सब भांति की आत्म-सम्मोहक वृतियों को जिन्होने तिलांजलि दे दी है। चित्त के किसी भी कोने में पडी हुई कोई भी धारणा सत्यानुभव के लिये बाधा बन जाती है। उसका प्रक्षेपन (PROJECTION) हो सकता है। वह रूप धर सकती है और सत्य का भ्रम पैदा कर सकती है। यह अनुभव सुखद भी हो सकता है। लेकिन, सुखद होने से ही कोई अनुभव सत्य नहीं हो जाता। वस्तुत: तो सुख और दु:ख की अनुभूतियां मन की ही अनुभूतियां हं। सत्य की अनुभूति न तो सुख की अनुभूति है, न दु:ख की। वह तो दोनों के ही पार है।

हम जिन धारणाओं को स्वीकार कर लेते हं, वे क्रमश: अचेतन हो, चित्त के गहरे और अंधेरे तलों में प्रविष्ट हो जाती हं। उनके होने का धीरे-धीरे हमें स्वयं ही ज्ञान नहीं रह जाता। किसी भी भांति की धारणायें

उस जाति के व्यक्तियों के अचेतन की सहज ही निवासनी बन जाती है। इनसे मुक्त होना कठिन है, लेकिन मुक्त हुऐ बिना अन्य कोई विकल्प भी नहीं। चित्त यदि पूर्व से ही किन्हीं धारणाओं, रूपों, आवृतियों और मूर्तियों से भरा है, तो वह सत्य को जानने को खाली ही नहीं है। उसमें अवकाश ही नहीं है कि सत्य प्रवेश पा सके। और वह स्वतन्त्र भी नहीं है कि अपने स्वप्नों को छोड़ सके। उसमें स्वप्न बनते और बिगड़ते ही रहेंगे और जिस स्वप्न के वह स्वयं ही पक्ष में हो और जिसे वह स्वयं ही सत्य सिद्ध करना चाहता हो, वह स्वप्न सत्य का अभिनय भी कर सकता है। किसी भी स्वप्न में यदि हम अपनी समग्र शक्ति से सहयोग दें, तो तीव्रता के किन्हीं क्षणों में वह सत्य की भांति प्रतीत हो सकता है। स्वप्न सत्य होने का आनन्द दे सकते हैं और बहुत से लोग इस तरह के अभ्यास को ही सत्य की साधना समझ लेते हैं।

निराग्रही और शून्य आंखों से सत्य का दर्शन

मित्र, सत्य की और स्वप्न की साधना में बहुत भेद है। स्वप्न की साधना में श्रद्धा, विश्वास, आरोपण और आत्म-सम्मोहन चाहिये और सत्य की साधना में उन सब का त्याग। सब भाँति शून्य आंखें ही सत्य को जान सकती हैं। जो आंखें पूर्व से ही किन्हीं चित्रों से भरी हैं, वे अपने ही चित्रों के प्रक्षेपण को जानगी, उसको नहीं जो कि है। आंख तो चाहिये दर्पण जैसी, शून्य, निर्दोष और निष्पक्ष। निराग्रह होना, निर्दोष होना है। शून्य होना-स्वच्छ होना है।

परमात्मा बेचारा अकेला है

मैंने एक छोटी सी कहानी सुनी है: एक फकीर दिन-भर के उपवास और उपासना के बाद रात्रि को सोया ही था कि उसने एक स्वप्न देखा। उसने देखा कि वह स्वर्ग में पहुंच गया है। कोई बड़ा समारोह वहां मनाया जा रहा है। सारे रास्ते सजे हैं। बहुत दीप जले हैं। हवाएं सुवासित हैं। मार्गों पर बहुत चहल पहल है। उसने किसी से इस सब का कारण पूछा तो ज्ञात हुआ कि आज भगवान का जन्म दिन है और जल्दी ही उनकी शोभा यात्रा निकलने वाली है। वह भगवान के दर्शन की कल्पना से ही आनन्दित हो उठा और राजपथ के किनारे इकट्ठी होती भीड़ में बड़ी प्रतीक्षा से खड़ा हो गया। फिर शोभा यात्रा शुरु हुई। लाखों लोग हैं।

बीच में रथ पर अत्यंत प्रतिभाशाली व्यक्ति बैठा हुआ है। उसने सोचा शायद यही भगवान हैं और लोगों से पूछा। किन्तु ज्ञात हुआ कि ये हू— जीसस क्राइस्ट और साथ में उनके अनुयायी हैं। उनके निकल जाने के बाद वैसा ही दूसरा रथ भी आया। वे थे हजरत मोहम्मद। उनके साथ भी लाखों लोग हैं। और·········फिर राम का रथ था, कृष्ण का रथ था, बुद्ध, महावीर और जरथुस्त्र के रथ थे। और बहुत से लोग थे और बहुत से रथ थे। वह देखते-देखते थक गया, लेकिन भगवान का कोई भी पता न चला।

फिर तो मार्ग भी निर्जन होने लगे। भीड़ छटने लगी। शायद शोभा यात्रा समाप्त हो गई थी? तभी एक बूढ़े से घोड़े पर एक वृद्ध व्यक्ति बैठा हुआ आया। उसके साथ न तो मशालें थीं, न ही कोई व्यक्ति था। अंत में इस दयनीय वृद्ध को देख उसे हंसी आने लगी। उसने किसी से पूछा— 'ये महानुभाव कौन हैं? उत्तर मिला— 'ये स्वयं परमात्मा हैं।' इस सत्य के आघात से उसकी नींद टूट गई और उसने स्वयं को कांपते हुए पाया। दिन भर जो प्रार्थनायें उसने की थीं, फिर उन्हें वह नहीं कर सका। भगवान के नाम से जो धारणायें उसने बना रखी थीं, वे खंडित हो गईं।

भगवान के साथ होने के लिये और सबका साथ छोड़ देना आवश्यक है। जो किसी और के साथ है, वह इस कारण ही भगवान के साथ नहीं रह पाता है। उस रात्रि उसकी साधारण नींद ही नहीं टूटी; वरन् वह नींद भी टूट गई, जो धर्म के नामों पर प्रचलित अफीम को लेने से आ जाती है।

किन्तु कितने कम लोग हैं जो कि अपनी नींद के नशे को तोड़ने को राजी होंगे?

उस फकीर ने जो स्वप्न में देखा था, क्या वही आपको सारी पृथ्वी पर वस्तुतः दिखाई नहीं पड़ता है? लोग क्राइस्ट के साथ हैं, कृष्ण के साथ हैं, बुद्ध के साथ हैं. लेकिन परमात्मा के साथ कौन है? वस्तुतः परमात्मा के साथ जिसे होना है, उसे अपने और परमात्मा के बीच में किसी भी मध्यस्थ को लेने की कोई भी जरुरत नहीं है। मध्यस्थ की धारणा हमारी कल्पना के अतिरिक्त और कुछ ही नहीं है। फिर वह कल्पना ही बाधा बन जाती है।

परमात्मा का साथी, सबका साथी

यह स्मरण रहे कि जो परमात्मा के साथ है, वह राम, कृष्ण, और क्राइष्ट के साथ तो है ही। लेकिन जो क्राइस्ट के साथ है या कृष्ण के साथ है, वह परमात्मा के साथ नहीं है। क्योंकि क्राइस्ट के साथ जो है, वह कृष्ण के विरोध में है। और राम के साथ जो है, वह मोहम्मद के पक्ष में नहीं किन्तु जो परमात्मा के साथ होता है, वह एक ही साथ सबके साथ हो जाता है। क्योंकि परमात्मा में किसी का कोई भी विरोध नहीं है। वैसा व्यक्ति किसी भी धर्म में नहीं होता है, क्योंकि वह धर्म में होत है।

मनुष्य जिस क्षण भी अपने सब आग्रह छोड़ देता है, उसी क्षण उस निराग्रह भावदशा में ही सत्य के सब पर्दे गिर जाते हैं। वस्तुतः वे पर्दे सत्य पर नहीं, वरन् हमारे चित्त पर ही पड़े होते हैं।

सत्य एक है और एक ही हो सकता है। किन्तु उसकी धारणायें अनेक ह। एक की ओर चलने को अनेक का क्षेत्र छोड़ देना आवश्यक है।

सांप्रदायिक व्यक्ति धार्मिक नहीं

एक पूर्णिमा की रात्री मैं सागर तट पर था। सागर की लहरों में चन्द्रमां के अनेक रुप प्रतिबिम्बित हो रहे थे। चन्द्रमा तो एक था, लेकिन सागर की लहरे उसे बहुत रुपों में प्रतिफलित करती थी। जो मित्र साथ थे, उनसे मैने कहा था— 'ऐसा ही मनुष्य का अशात मन है। सत्य को अशांति के कारण वह बहुत रुपो में धारण करता है। लेकिन जो एक है, उसे जानने को स्वयं एक और शान्त होकर प्रतीक्षा नही करता।' आर यह भी मैंने उनसे कहा था— 'सागर की लहरों पर जो प्रतिफलन बन रहे ह, वे सत्य नहीं ह, उन्हें छोड़कर उस ओर देखना आवश्यक है, जिसके कि वे प्रतिफलन ह।'

लेकिन दुर्भाग्य से हम तो प्रतिफलनों से ही तृप्त हो जाते हैं। धर्म की जगह हम हिन्दू, ईसाई या जैन होने से तृप्त हो जाते ह। क्या यह उचित नहीं है कि जो धर्म में गति करना चाहे, उसे इन थोथी और सतही तृप्तियों से ऊपर उठना होगा। धार्मिक होने के लिये हिन्दू, मुसलमान, सिख या पारसी होना छोड़ना चाहिये। ये बन्धन मिट ही जाना चाहिये। धर्म के लिये पंथों का मोह-त्याग, मूल्य की भांति चुकाना पड़ता है। संप्रदायों से जो जितना दूर हो जाता हे, वह धर्म के उतने ही निकट आ जाता है। सम्प्रदायों पर जिसका प्रेम जितना कम हो जाता है, वह धर्म का उतना ही प्यारा बन जाता है।

कमजोर व्यक्ति भीड़ की शरणागत

यह भी सोचना आवश्यक है कि संप्रदायों और संगठनों से हमारा इतना राग क्यों है ? क्योंकि व्यक्ति अकेले होने में भय खाता है। भीड़ के साथ होने से उसे यह भय नहीं सताता और सुरक्षा अनुभव होती है। बहुत गहरे में यही भय धार्मिक संगठनों से हमें बांधे रखता है। संप्रदाय मनुष्य के समूह में होने की आकांक्षा के शोषण हैं। मनुष्य की यह कमजोरी ही उनकी शक्ति है : इस कमजोरी का सहारा ले, वे किन्हीं भी सिद्धांतों और शास्त्रों का प्रचार कर सकते हैं और लोगों को उन्हे मानने को राजी कर सकते हैं। उनके पीछे जितनी बड़ी भीड़ हो, जितनी बड़ी संख्या हो, उनके द्वारा प्रतिपादित और प्रचारित सत्य भी उतने ही ज्यादा सत्य मालूम पड़ने लगते हैं। यही कारण है कि सभी संप्रदाय संख्या के बढ़ाने के लिये और उनकी संख्या कम न हो जावे, इसके लिये सदा ही चेष्टारत होते हैं। इस प्रतिस्पर्धा में हिंसा, घृणा और हत्यायें सभी पाप भी पुण्य हो जाते हैं। युद्ध, धर्मयुद्ध हो जाता है और निर्दोष व्यक्तियों के रक्त की भी झूठे देवताओं के लिये आहुति दी जा सकती है। धर्मों का इतिहास इन अत्याचारों और अनाचारों की कहानी का ही इतिहास है।

धर्म की अनुभूति अभय में

धर्मों की भित्ति भय पर है। जब कि धर्म की आत्मा है— अभय। अभय का अर्थ है : अकेले होने का साहस। वह वन में जाने का साहस नहीं, वरन् स्वयं के भीतर भय के कारण स्वीकृत समस्त धारणाओं को छोड़ देने का साहस है। अपने भय के कारण हम स्वयं ही उन्हें पकड़े हुऐ हैं। कोई और मूलत: जिम्मेवार नहीं है। भय है और उससे सुरक्षा पानी है, तो किसी न किसी की शरण जाना ही होगा। शरणागत होने की प्रकृति भय से पलायन ही है। उससे भय तो नष्ट नहीं होता; बस व्यक्ति, पर निर्भर हो जाता है। भय से परनिर्भरता आती है इस भांति हमारा चित्त एक ऐसे अन्तहीन वृत में पड़ जाता है, जिसके बाहर जाने का फिर कोई द्वार ही नहीं मिलता है। द्वार तो है, लेकिन वह भय की अनुभूति में ही है। उससे पलायन के बाद फिर कोई द्वार नहीं है। भय है, तो उसे एक तथ्य की भांति स्वीकारें और उससे भागें

नहीं। भागने पर तो, फिर परमात्मा भी उससे नहीं बचा सकता है। रुकें और भय के उस तथ्य में झांकें। झांकने पर ज्ञात होता है कि हम छाया से डरे हुए थे।

स्वयं के अकेलेपन को जानना और जीना धर्म का पथ है। धर्म तो स्वयं को,, स्वयं से, स्वयं तक अत्यन्त एकाकी उड़ान है। उसका समूह से, संगठन से क्या सम्बन्ध? धर्म तो आत्यंतिक रूप से वैयक्तिक और निजी क्रांति है। क्या आपको स्वयं ही यह दिखाई नहीं पड़ता है? देखें! आंख खोलें और देखें! संप्रदायों के धुएं को हटायें, तो धर्म की निर्धूम ज्योति-शिखा अवश्य ही दिखायी पड़ती है।

संन्यास त्याग नहीं उपलब्धि

समाज और घर को छोड़नेवाले संन्यासी तो हैं, लेकिन वास्तविक संन्यास तो उन संस्कारों के छोड़ने से उपलब्ध होता है, जो कि घर और समाज, परम्पराएँ और जातियां हमें विरासत में दे देती हैं। चित्त के उन समस्त घेरों को तोड़ना आवश्यक है, जो कि दूसरों के द्वारा हमारे भीतर निर्मित किये गये हैं। सत्य की दिशा में यही पहला चरण है। उस ज्ञान को व्यर्थ जानें, जो कि सिखाया गया है। आस्तिकता सिखाई गई हो, तो आस्तिकता व्यर्थ है और नास्तिकता सिखाई गई हो तो नास्तिकता व्यर्थ है। आस्तिकता तो हजारों वर्षों से सिखाई जाती रही है। राज्य और धर्म उसका प्रचार करते हैं। लेकिन इधर एक देश कुछ वर्षों से नास्तिकता भी सिखा रहा है। कुछ वर्षों के प्रचार से उसने करोड़ों लोगों को ईश्वर, धर्म, आत्मा और पुनर्जन्म के विरोध में सहमत कर लिया है। लोग राजी हो गये हैं कि धर्म अफीम का नशा है और ईश्वर का सारा विचार ही अज्ञानपूर्ण है और वे सारे लोग अज्ञानी थे, जिन्होंने देह के अतिरिक्त और किन्हीं सत्यों के अनुभव की बात की है। वे वे ही लोग हैं जो कि ईश्वर को मानते थे और ईश्वर के पुत्र को मानते थे। वह मान्यता भी उन्हें दिया गया संस्कार थी। और जैसे वे पुराने प्रचार को मानते थे, वैसे ही उन्होंने नया प्रचार भी मान लिया है। मानने की आदत ही असल में घातक है। मस्तिष्क का वैसा ढांचा कुछ भी मानने को राजी हो सकता है। क्योंकि अंधविश्वास ही वैसे ढांचे का आधार है और अंधापन अज्ञान का गढ़ है। धार्मिक चेतना स्वीकार

करने वाली चेतना नहीं होती है। विद्रोह तो उसका प्राण ही है। मैं विद्रोह सिखाता हूँ, क्योंकि मैं मनुष्यता में धर्म का जन्म देखता हूँ।

विद्रोह अंधश्रद्धा नहीं विवेकपूर्ण जागरण

विद्रोह का क्या अर्थ है? विद्रोह विरोध नहीं है। विरोध तो प्रतिक्रिया-जन्य होता है। प्रतिवाद में वाद छिपा ही रहता है। विद्रोह तो एक प्रकार का जागरण है। विद्रोह तो एक ऐसे सजीव बोध में निहित होता है, जहाँ मन स्वयं जानने को जागरूक रहता है और किसी भी मान्यता को या मान्यता के विरोध को अपने भीतर इकट्ठा नहीं होने देता है। विद्रोह अंधश्रद्धा से भिन्न विवेक की दृष्टि है। विद्रोह विवेक ही है।

विश्वास पर आधारित धर्म मृत

मैं निवेदन करूँगा कि अपने मन में खोजें और जहाँ भी प्रचारित और संस्कारित विश्वास मिलें, उन्हें जड़मूल से उखाड़कर फेंक दें। इस भाँति ही मन की भूमि तैयार होनी है, बाद में उसमें ज्ञान के बीज बोये जा सकते हैं और सत्य की फसल काटी जा सकती है। बाहर से आये विश्वास; स्वयं तो थोथे और निर्जीव होते ही हैं, लेकिन उनके घासपात के कारण चित्त अपनी उत्पादकता भी खोने लगता है। थोथे और अंधे विश्वासों के कारण ही बहुत से सृजनशील मन बिल्कुल ही निरुत्पादक पड़े रह जाते हैं। उनके कारण ज्ञान का भ्रम पैदा होता है और तब स्वभावत: ही ज्ञान की खोज बंद हो जाती है। उनके कारण धार्मिक होने का आभास होने लगता है, तब स्वभावत: ही वास्तविक धर्म को जानने से वंचित रह जाना पड़ता है। क्या इस अति स्पष्ट सत्य के लिये भी मुझे प्रमाण देने होंगे?

कितने लोग मंदिर जाते हैं, कितने लोग परमात्मा पर श्रद्धा रखते हैं, कितने साधु हैं, कितने संन्यासी हैं, लेकिन क्या उनमें से किसी के भी जीवन में धर्म की किरण दिखायी देती है? विश्वास पर आधारित धर्म जीवित नहीं हो सकता है, विश्वास नपुंसक है। उससे न तो कोई क्रांति होती है और न कोई परिवर्तन होता है। हां, धोखा अवश्य ही पैदा होता है और उस धोखे में कितने ही जीवन नष्ट हो जाते हैं।

उधार धर्म बौद्धिक आस्था

जीवन्त धर्म विश्वास से नहीं, विवेक से जन्मता है। वही आप के प्राणों की ऊर्जा बन सकता है। उसकी अग्नि में ही आप नये होते हैं और

आपका नया जन्म होता है। धर्म निश्चय ही व्यक्ति को द्विज बनाता है; उसे दूसरा जन्म देता है, लेकिन वह धर्म दूसरों से नहीं मिलता है। उसे तो स्वयं ही खोजना पड़ता है। दूसरों से दिया हुआ धर्म केवल एक बौद्धिक आस्था ही बनकर रह जाता है। वही किसी भी भांति आपकी समग्र आत्मा नहीं बन सकता है। और जो आपकी समग्र आत्मा नहीं है, वह आनन्द भी नहीं है।

जिज्ञासा को स्वतंत्र करो। अपनी जिज्ञासा को मुक्त करो। किससे स्वतंत्र? किससे मुक्त? समाज से, संस्कार से, संप्रदाय से, सत्य के सिद्धान्तों और शास्त्रों से। संस्कारों में जो आबद्ध है, उसके पैर तो भूमि में गड़े हैं। वह आकाश में कैसे उड़ सकता है?

समाज का त्याग संन्यास नहीं

समाज को छोड़कर भागने को मैं नहीं कह रहा हूं। उस भांति के पागलपन के लिये मेरी दृष्टि में कोई भी स्थान नहीं। संन्यासियों से जब भी मिलता हूं, तो मैं उनसे यही कहता हूं कि समाज को छोड़कर भाग जाने से कुछ भी नहीं होता है। क्योंकि समाज के दिये संस्कार यदि आपके चित्त में बैठे हैं, तो भले समाज के बाहर चले आने के भ्रम में हों, लेकिन समाज अभी आपके भीतर ही बैठा हुआ है। समाज बाहर नहीं, वह तो आपके भीतर है। समाज तो संस्कारों और विश्वासों में है। उन्हें छोड़ना ही असली तप और त्याग है। परिवार और परिवेश को छोड़कर भाग जाना कठिन नहीं है, कठिन है उस चित्त को छोड़ना जो कि समाज ने दिया है। उसे छोड़ने में बहुत कठिनाई होती है, क्योंकि एक अर्थ में वह स्वयं को ही तोड़ना है। संस्कारों को हटाना, अपने ही चित्त-भवन की ईंटों को हटाना है। बहुत साहस और श्रम की जरूरत है। परिचित चित्त में सुरक्षा है। वह जाना-माना है। फिर वैसे ही चित्त के और लोग भी हैं। उन सब के कारण उसका वैसा होना सत्य भी प्रतीत होता है।

संख्या, मूर्खतापूर्ण से मूर्खतापूर्ण बात पर भी विश्वास दिला देती है। ऐसी ही हमारी विचारसारिणी होती है कि जिस बात को इतने लोग मानते हैं, वह अवश्य ही ठीक होनी चाहिये! इसी कारण से यदि समूह और भीड़ साथ हों, तो व्यक्तियों से ऐसे कार्य कराये जा सकते हैं, जो अकेले से वे

कभी भी करने को राजी न होते। अकेले व्यक्ति को विचार पैदा होता है। भीड़ में वह भीड़ का हिस्सा हो जाता है और उसकी कोई निजी जिम्मेवारी नहीं रह जाती।

भीड़ों ने जैसे अपराध किये हैं, वैसे अकेले व्यक्ति ने कभी नहीं किये। यह स्मरण रहे कि जीवन में अनुभूति की, फिर चाहे वह सत्य की हो, सौन्दर्य की हो या शिवत्व की हो, जो भी श्रेष्ठतम ऊँचाइयां हैं, वे अकेले व्यक्तियों ने ही स्पर्श की है। भीड़ों के ऊपर ही मनुष्य को नीचे गिराने का दोष मढ़ा जा सकता है।

अज्ञात से भय बूढ़े होने का लक्षण

समाज द्वारा प्रदत्त चित्त इसलिये भी सुरक्षित मालूम होता है, क्योंकि वह परिचित है। अपरिचित में प्रवेश करने में, परिचित को छोड़ने का भय मालूम होता है। यह भय ही ज्ञात के ऊपर नहीं उठने देता, जबकि सत्य अज्ञात है और परमात्मा अज्ञात है। ज्ञात को छोड़ना ही होगा, यदि अज्ञात को पाना है। इसलिये ही साहस को मैं सबसे बड़ा धार्मिक गुण मानता हूँ।

साहस को जगाओ और ज्ञात की लक्ष्मण रेखा को लांघो। भूलें भी हो सकती हैं, लेकिन विवेक जाग्रत हो तो भूलों से बड़ी शिक्षा देने वाला और कौन सा गुरु है? फिर ज्ञात पर रुके रहने से बड़ी और कोई भूल नहीं है, उससे कोई शिक्षा भी नहीं मिलती है। सिवाय इसके कि उस पर रुके रहने की आदत प्रगाढ़ होती है और अज्ञात में जाने का साहस क्रमश: क्षीण होता जाता है तथा अलंघ्य पर्वतों के बुलावे और चुनौती के प्रति कान बहरे हो जाते हैं। अज्ञात से भय बूढ़े होने का लक्षण है। युवा मन तो सदा ही अज्ञात की चुनौती स्वीकार करने को तैयार और तत्पर होता है। सत्य के साक्षात के लिये बूढ़ा नहीं; युवा मन चाहिये, जो अज्ञात और अपरिचित मार्गों के लिये सदा ही कटिबद्ध रहता है। वह इस तत्परता के कारण ही मन से कभी बूढ़ा नहीं होने पाता है। शरीर तो बूढ़ा होगा, लेकिन मन के बूढ़े होने की कोई भी अपरिहार्यता नहीं है। वह तो ज्ञात की लीक से बंधे रहने की हमारी वृत्ति के कारण बूढ़ा हो जाता है।

साहस जिनमें नहीं है, वे बिना रीढ़ के प्राणियों की तरह जमीन पर ही रेंगते रहते हैं। साहस ही तो रीढ़ है। उठो! और अपने साहस को

जुटाओ। संकल्प हो तो उसके केन्द्र पर बिखरा हुआ साहस अवश्य ही इकट्ठा हो जाता है।

प्रभु की पगडंडियां अति सकरी

जीवन पर पुनर्विचार करना आवश्यक है। क्या जमीन पर ही रेंगते रहना है या कि ऊपर उठना है और सूर्य-लोक की यात्रा करनी है? जमीन पर रेंगते रहने का अंत, जमीन में कब्र की खोज लेने के अतिरिक्त क्या होगा? लेकिन जो सूर्य की दिशा में यात्रा करते हैं, वे अमृत को उपलब्ध होते हैं। किन्तु वह रास्ता अकेले का है। कोई दूसरा उसमें संगी-साथी नहीं हो सकता। समूह वहां साथ नहीं हो सकता है। इसलिये जो उस लोक की यात्रा का अभीप्सु है, उसे अपने चित्त को सब भांति अकेला करना ही होगा। उसे स्वयं की स्वतंत्रता अर्जित करनी होगी। चित्त जब तक समाज के संस्कारों का दास होता है, तब तक व्यक्ति समाज का एक अंश मात्र ही होता है। और जब इन संस्कारों से कोई मुक्त होता है, तो पहली बार वह व्यक्ति बनता है। मैं ऐसे व्यक्ति नहीं चाहता हूँ, जो कि समाज के अंश हों। वरन् एक ऐसा समाज चाहता हूं जो कि व्यक्तियों का जोड़ हो। स्वतंत्र व्यतियों से स्वतंत्र समाज भी निर्मित होता है।

साहसी ही सत्य का अधिकारी

साहस के अभाव के कारण ही हम दूसरों के उधार सत्यों को ढोते हैं। और जीवन की उत्तुङ्ग ऊंचाइयों से परिचित होने से वंचित रह जाते हैं। जीवन का वास्तविक अनुभव उस जीवन में नहीं है; जो कि जन्म से मिलता है, बल्कि उस जीवन में है जो कि हम स्वयं ही पाते और अर्जित करते हैं। जीवन, जो हो सकता है; आत्यंतिक रूप से वही होकर, वास्तविक बनता है। उसमें निहित सभी संभावनायें जब वास्तविक बन जाती हैं, तभी वह भी वास्तविक हो, यह स्वाभाविक ही है। उस जीवन में जिसे कि हम दैनंदिन कार्यों के निरन्तर पुनरुक्त होने वाले मैदानी और समतल मार्गों पर ही व्यय कर देते हैं। बहुत अज्ञात ऊंचाइयां है बहुत अनजान गहराइयां भी हैं और जो उनसे परिचित नहीं होता, वह स्वयं से ही परिचित नहीं हो पाता है। लेकिन उन ऊंचाइयों और गहराइयों

को पाने के लिये अदम्य साहस की अपेक्षा है। वह साहस भूमि पर सरकने वालों को तो दुस्साहस ही मालूम होगा। वैसा दुस्साहस जो करता है, वह पागल ही प्रतीत होता है। किन्तु मेरी दृष्टि में तो वे लोग धन्य हैं, जो कि सत्य को पाने के लिये दुस्साहस करते हैं और पागल हो सकते हैं।

असुरक्षा का स्वीकार ही साहस

शास्त्रों को हटा दें, शब्दों को हटा दें और स्वयं को पूर्णतया उधार सत्यों से विच्छिन्न कर लें। ज्ञान की धूल को अपने चित्त से झाड़ दें। अज्ञान है भीतर, तो उसे ही स्वीकार करना है। उस अज्ञान में असुरक्षा ज्ञात हो, तो उस असुरक्षा को भी अंगीकार करना है। साहस का और अर्थ ही क्या है? असुरक्षा का सहज स्वीकार ही तो साहस है। किन्तु हम हैं कि असुरक्षा से भागते हैं और सुरक्षा की शरण लेते हैं। इस कमजोरी का शोषण करने वाले बहुत हैं। वे अनेक-अनेक रूपों में सुरक्षा का आश्वासन देते हैं। और उन पर श्रद्धा करने और उनकी शरण गहने के अतिरिक्त उनकी कोई और शर्त भी नहीं होती है। इस भांति उनका अहंकार तृप्त होता है और हमारी सुरक्षा की आकांक्षा तृप्त हो जाती है। फिर तथाकथित गुरु, शास्त्र और संप्रदाय, सब इसी मानसिक शोषण पर जीते हैं। लेकिन किसी भांति का पलायन न तो अज्ञान को ही नष्ट करता है और न वस्तुतः सुरक्षा ही लाता है। ज्ञान और सुरक्षा वस्त्रों की भांति ऊपर से ओढ़ लिये जाते हैं और भीतर गहरे में अज्ञान और असुरक्षा का ही राज्य होता है। शत्रु के प्रति आंख बन्द कर लेने से कुछ नहीं होता है। तथ्यों से डरकर, अतथ्यों में मुंह छुपाने से भी क्या होगा? तथ्य से भागने से नहीं, तथ्य को ही उघाड़ने, उसके प्रति जागने और विश्लेषण करने से सत्य की प्राप्ति होती है। सत्य उन तथ्यों में ही छिपा बैठा है जिनसे कि हम भागना चाहते हैं।

पलायन नहीं परिवर्तन

एक बाग में मैं गया था। वहां मैंने किसी बहुत सुकोमल फूल के बीज देखे। वे तो पत्थर जैसे सख्त और कठोर थे। मैंने कहा-- 'बीज को देखो और फूल को देखो। इस सुकोमल फूल की सुरक्षा के लिये ही ऐसी कठोर इस बीज की खोल है। इसमें ही वह कोमल अंकुर छिपा है, जो कि अपने प्राणों में फूलों को बसाये है।'

अज्ञान की खोल में ही ज्ञान का दिया छिपा है। और असुरक्षा के बीज में ही परम सुरक्षा के फूल सोये हुए हैं।

जीवन उनका है जो उसे जीते हैं, उनका नहीं जो कि उससे भागते हैं। जीवन से पलायन व्यर्थ ही नहीं, अनर्थ भी है। विजय का सूत्र पलायन नहीं, परिवर्तन है। स्वयं से भागो नहीं, वरन् स्वयं को बदलो। और बदलाहट के लिये साहस चाहिए। संकल्प चाहिए, श्रम चाहिये शक्ति चाहिये, और इन सब की उत्पत्ति स्वयं पर श्रद्धा से होती है। लेकिन हम स्वयं पर नहीं, सदा और किसी की श्रद्धा में ही बंध जाते हैं। पर-श्रद्धा, आत्मा-श्रद्धा का अभाव है। उससे शक्ति नहीं अशक्ति ही आती है और जीवन बहुत गहरे में पंगु हो जाता है।

स्वयं पर विश्वास से शक्ति का जागरण

आत्म श्रद्धा शक्ति है। स्वयं पर विश्वास से ही शक्ति के सोये स्रोत सजग होते हैं। स्वयं पर जहां विश्वास है, वहीं-- उसी केन्द्र पर साहस इकट्ठा होता है। और यदि हम थोड़ा सा भी साहस जुटा पायें, तो गति संभव हो जाती है, फिर गति से साहस आता है और साहस से गति बढ़ती है। चलने से ही चलने का विश्वास आता है और विश्वास आने से चलने की शक्ति बढ़ती है। एक कदम भी जो उठा सकता है, वह फिर हजारों मील की यात्रा करने में समर्थ हो जाता है। क्योंकि एक बार में एक कदम से ज्यादा तो किसी को भी नहीं उठाना है और यदि कोई उठाना भी चाहे, तो भी उठा नहीं सकता। बड़ी से बड़ी यात्रा एक-एक कदम उठाकर ही तय होती है। और एक भी कदम न उठा सके, ऐसा कमजोर कौन है? हम यदि थोड़ा सा साहस और आत्म-विश्वास जुटायें, तो एक कदम तो निश्चित ही उठा सकते हैं। स्वयं की जड़ता में थोड़ा सा भी चैतन्य का प्रवेश, चेतना के जागरण के लिये प्रेरणा बन जाता है। शक्ति का थोड़ा सा भी प्रयोग और शक्ति के सक्रिय होने के लिये आमंत्रण बन जाता है।

शक्ति से ही सृजन और विध्वंस

क्या वह भजन आपने सुना है, जिसमें कहा गया है—'परमात्मा,

एक ही कदम मेरे लिये काफी है।' सच ही जिसे चलना है, उसके लिए एक कदम उठाने की शक्ति ही काफी है। जिसे नहीं चलना है उसके पास कितनी भी शक्ति हो, तो वह उसका क्या करेगा ? उसकी शक्ति ही उसका विनाश बन जायेगी। क्योंकि जिस शक्ति का उपयोग नहीं होता है, वह आत्मघाती रूपों में प्रयुक्त होने लगती है। शक्ति यदि सृजन न बन सके, तो वह विनाश बन जाती है।

जिज्ञासा विचारणा नहीं, प्राणों की अभीप्सा

यह अक्सर ही मुझसे पूछा जाता है कि क्या कारण है, कि हम अपनी शक्ति और संकल्प को इकट्ठा नहीं जुटा पाते हैं और जीवन ऐसे ही चुक जाता है ? क्या कारण है कि हमारी शक्ति सर्जक नहीं बन पाती है ? क्या कारण है कि सत्य की दिशा में हमारे चरण नहीं उठ पाते हैं और हम भूमि में ही गड़े रह जाते हैं ?

मैं इस आधारभूत सवाल पर विचार करता हूँ, तो मुझे दिखायी पड़ता है कि हम अपनी शक्तियों को इस कारण ही केन्द्रित नहीं कर पाते हैं, क्योंकि सत्य की जिज्ञासा हमारे भीतर कभी ज्वलंत प्यास नहीं बन पाती है और मात्र बौद्धिक ऊहापोह ही बनी रहती है। बौद्धिक ऊहापोह इतनी सतही बात है कि उसके कारण गहरे में सोई हुई शक्तियां नहीं जाग सकती हैं। फिर जो मात्र वैचारिक है उससे प्राणों की समग्रता अस्पर्शित ही रह जाती है। प्राण तो विचार से नहीं, प्यास से आन्दोलित होते हैं। और जब प्राण विकल होते हैं; तभी वह चुनौती आती है, जो कि शक्तियों को जगाती और एकत्रित करती है। विचार और मात्र विचार अत्यन्त निष्प्राण क्रिया है। इसलिये ही कोरे तत्व चिन्तक केवल चिन्तन में ही चलते हैं। वस्तुत: उनके जीवन में कोई गति नहीं होती है और इसलिये जीवन भी नहीं होता है। सत्य जिज्ञासा विचारणा की ही नहीं, प्राणोंकी अभीप्सा भी बननी चाहिये। तभी वह यात्रा प्रारम्भ होती है जिसे कि मैं धर्म कहता हूं।

बौद्धिक जिज्ञासा—कोरा बौद्धिक ऊहापोह तो खुजली की खुजलाहट जैसा है। वह तो एक रुग्णता है। उसमें जो भी रस है, वह भी अस्वस्थ और घातक है। साहस, शक्ति और संकल्प जिज्ञासा के केन्द्र पर नहीं, अभीप्सा के केन्द्र पर ही सक्रिय होते हैं।

जिज्ञासा अभीप्सा तक ले चले तो शुभ है। लेकिन यदि वह अपने ही भीतर कोल्हू के बैल की भांति चक्कर लगाने लगे, तो अशुभ हो जाती है।

जीवन को दाव पर लगाकर देखें

एक नवयुवक मेरे पास आया था। वह सत्य जानना चाहता था। मैंने उससे पूछा—"सत्य जानना चाहते हो या सत्य के सम्बन्ध में जानना चाहते हो? सत्य के सम्बन्ध में जानना बहुत सरल है, लेकिन अंत में पाओगे कि जो जाना वह सत्य नहीं है। और सत्य ही जानना चाहते हो, तो मार्ग पर्वतीय और बहुत दुर्गम है। और सत्य मूल्य मांगता है। और छोटा-मोटा मूल्य नहीं, पूरे जीवन का ही मूल्य मांगता है। क्या इतनी प्यास अनुभव होती है कि अपने प्राणों को बाजी पर लगा सको? वह बहुत देर तक बैठा सोचता रहा। मैंने उससे कहा—"प्यासा पानी पीने के लिए इतना नहीं सोचता है। जाओ और शास्त्रों को पढ़ो। शब्दों को सीखो और उनसे अपनी तृप्ति कर लो। किन्तु स्मरण रखना कि सत्य विचारों के संग्रह से नहीं, वरन् प्राणों की प्रज्वलित प्यास से ही पाया जाता है। जहाँ गहरी प्यास है, वहीं उसकी प्राप्ति है।"

जिज्ञासा, मात्र जिज्ञासा—कोरा कुतूहल है। वह बहुत अपरिपक्व मस्तिष्क का लक्षण है। परिपक्वता जिज्ञासा को प्यास में बदल देती है। सत्य के सम्बन्ध में नहीं, तब हम सत्य को ही जानना चाहते हैं। उसके पूर्व फिर संतृप्ति नहीं होती है।

प्यास के अभाव में प्रभु की अमृत-वर्षा कैसे ?

एक अद्भुत साधु था—बोधिधर्म। वह हमेशा दीवार की ओर ही मुँह करके बैठता था। लोगों की ओर पीठ और दीवार की ओर मुँह! यह पागलपन ही है न? लेकिन जिनकी आंखों में सत्य की अभीप्सा न हो, उनकी ओर देखकर बात करना और दीवार की ओर देखकर बात करने में क्या कोई भेद है? बोधिधर्म से लोग इस असाधारण व्यवहार का कारण पूछते तो वह कहता—'मैं तुममें भी दीवार पाता हूं। क्योंकि जिनके भीतर सत्य की अभीप्सा नहीं है, जिन्हें उसकी प्यास नहीं है, उनपर उसकी वर्षा दीवार पर ही वर्षा है।''

सत्य भी केवल उनकी ओर मुंह करता है, जिनके प्राण उसके लिए प्यासे हो जाते हैं। सत्य भी केवल उनके लिए द्वार देता है, जो कि अपनी अपनी समग्र शक्ति और संकल्प से उसे पुकारते हैं।

प्यास ही शक्ति

सत्य की गहरी प्यास में ही स्वयं की बिखरी शक्तियाँ इकट्ठी हो जाती हैं। शक्ति हमेशा प्यास के केन्द्र पर ही इकट्ठी होती हैं। जहाँ, जिस दिशा में प्यास है, वहीं शक्ति प्रवाहित होने लगती है। पानी जैसे ढाल की ओर बहता है, वैसे ही शक्ति भी प्यास की ओर बहती है। और पानी जैसे गड्ढों में इकट्ठा हो जाता है, वैसे ही शक्ति भी प्यास में इकट्ठी हो जाती है। वस्तुतः प्यास ही शक्ति बन जाती है। प्यास ही शक्ति है।

एक प्रेयसी ने अपने प्रेयसी से कहा—'क्या तुम मुझे प्रेम करते हो?' उस पागल प्रेमी ने कहा—'कैसे विश्वास दिलाऊँ? शब्द तो प्रमाण नहीं हो सकते!' प्रेयसी ने कहा—'गांव के पीछे जो पहाड़ है, उसे खोदकर अलग कर दो।' रात्रि हो रही थी। सूरज डूब रहा था। वह युवक उठा, उसने फावड़ा उठाया और पहाड़ खोदने चला गया। और बड़ी मीठी कथा है कि सुबह होने के पूर्व उसने पहाड़ खोदकर फक दिया था। यह बात कितनी काल्पनिक, लेकिन फिर भी कितनी सच है। जिसके भीतर प्यास है, प्रेम है—उसके भीतर शक्ति भी है। जिसके भीतर आत्मविश्वास है, उसके भीतर शक्ति है। असल में मार्ग में पहाड़ हैं ही इसलिए, कि हमारे भीतर ज्वलंत प्यास नहीं है। प्यास हो तो पहाड़ मिट जाते हैं। मार्ग की अड़चनें, प्यास के अभाव की प्रतीक हैं। प्यास की जलती अग्नि हो, तो कंटकाकीर्ण वनपथ भी राजपथ हो जाता है।

प्यास के बिना प्राप्ति असम्भव

जिज्ञासा प्राणों को दाव पर नहीं लगा सकती। लेकिन अभीप्सा सभी कुछ दाव पर लगा सकती है। और जब तक सत्य प्राणों से भी ज्यादा मूल्यवान नहीं है, जब तक की उस पर; उसके लिए स्वयं को न्यौछावर नहीं किया जा सकता है, तब तक हम उसके दावेदार भी कैसे हो सकते है? सत्य के ऊपर भी यदि कोई चीज आपको ज्ञात होती है, तो जान लें कि अभी आपकी प्यास पैदा नहीं हुई है और अभी वह शुभ-मुहूर्त नहीं आया है

कि आप उसकी खोज के लिए निकल सकें। प्यास के बिना प्राप्ति असंभव है। निकट ही सरोवर हो और हमें प्यास न हो, तो उस सरोवर के दर्शन नहीं हो सकते। पानी की पहचान पानी में नहीं, प्यास में है। प्यास न हो तो पानी पहचाना ही नहीं जा सकता है।

जो घर बारै आपना....

रोज ही अनेक व्यक्ति मुझे मिलते हैं, जो कि सत्य की या परमात्मा की तलाश में हैं। साधु-संन्यासी मुझे मिलते हैं, जिन्होंने कि अपना पूरा जीवन ही गँवा दिया है, लेकिन सत्य को नहीं पा सके हैं। मैं उनसे पूछता हूं कि सबसे पहले यह खोजो कि सत्य को खोजने के पहले सत्य की प्यास पैदा हो गई है या नहीं ? अगर स्वयं की प्यास पैदा नहीं हुई है और दूसरों के कहने कारण सत्य की खोज में निकल पड़े हो, तो इस धंधे मे गंवाने के सिवाय कमाना नहीं हो सकता है।

एक तो वह भूख है जो मुझे अनुभव होती है। एक वह भूख भी है जो कि यदि आप सब को कि मुझे लगी है, तो मुझे आभासित होने लगे। लेकिन, निश्चय ही इन दोनो भूखो मे जमीन आसमान का भेद होगा। असत्य भूख की खोज भी असत्य ही होगी। उसकी ओर जीवन शक्ति का प्रवाह नहीं हो सकता है।

जीवन से पलायन आत्मघात

धर्मशास्त्रों के परम्परागत प्रचार और साधु-सन्यासियो के सतत् उपदेशो के क रण सत्य की झूठी भूख भी पैदा हो जाती है। ऐसी भूख जीवन को बिल्कुल नष्ट कर देती है। फिर सत्य के अधिकांश तथाकथित खोजियो मे तो सच्ची भूख तो दूर, झूठी भूख भी नही होती। वे तो जीवन के उत्तर-दायित्व से बचने के लिए ही इस दिशा मे आ जाते हैं। जीवन का सघर्ष बहुतो को जीवन से पलायन के लिए प्रेरित कर देता है। इसी पलायन का आत्यतिक रूप आत्मघात में प्रगट होता है। फिर जहाँ ऐसे पलायन को भी संन्यास के नाम से आदर और पूजा मिलने की सुविधा हो, वहाँ तो बहुत ही सुविधा हो जाती है। यही कारण है कि जिन देशों में, जिन जातियों मे संन्यास की सुविधा और समादर है, उन देशों में और जातियों में आत्मघात

की घटनाओं का अनुपात कम है। क्योंकि बहुत से भगोड़े संन्यास में शरण पा जाते हैं और बहुत से आत्मघाती प्रवृत्तियों के लोगों को भी जीवित रहते हुए भी मार्ग मिल जाता है। आलस्य और प्रमाद भी बहुतों को संन्यास में ले जाता है। श्रमहीन शोषण की प्रवृत्ति भी संन्यास में ले जाती है। अहंकार की तृप्ति भी ले जाती है। आत्महिंसा का भाव भी ले जाता है। इस तरह के रुग्ण चित्त लोगों को सत्य कैसे मिल सकता है? सत्य पाने के लिए बहुत स्वस्थ चित्त और सत्य की स्वस्थ और सच्ची भूख अपेक्षित है।

सत्य तो निरन्तर मौजूद है। किन्तु उससे हमारा सम्पर्क नहीं, सम्बन्ध नहीं। वस्तुतः, तो सम्पर्क भी है, सम्बन्ध भी है। लेकिन हमें उस सम्पर्क का, सम्बन्ध का बोध नहीं है। सत्य में ही हम खड़े हैं। उसके बाहर होना संभव भी कैसे है? लेकिन उसकी खोज की, उसकी ओर आंखें उठाने की हममें गहरी आकांक्षा ही नहीं है।

इस आकांक्षा को, इस प्यास को इस अभीप्सा को कैसे पैदा करें? कोई कृत्रिम उपाय तो हो नहीं सकता। और किसी कृत्रिम उपाय से जो प्यास पैदा भी होगी, वह कृत्रिम ही होगी। प्यास सहज ही फलित होनी चाहिए। तो ही वह सत्य और अकृत्रिम और स्वाभाविक हो सकती है।

शास्त्रों और शब्दों में परमज्ञान कहां?

मैं स्वयं सत्य की स्वाभाविक अभीप्सा को सहज ही उपलब्ध हुआ। जीवन के प्रति आंख खोलने से, वह मेरे भीतर अनायास ही पैदा होने लगी। जैसे-जैसे मैंने जीवन को—चारों ओर घिरे हुए जीवन को अनुभव किया, उसकी समग्रता में; बिना किसी पूर्वाग्रह के मैं उसके प्रति जैसे-जैसे जागा, वैसे-वैसे ही मैंने एक अभिनव आकांक्षा को स्वयं में जन्म पाते हुए पाया। मैं जगत् और जीवन के प्रति जाग रहा था, तो मुझमें सत्य के प्रति प्यास जाग रही थी।

जीवन को देखें—उसकी समग्रता में। उसके सौन्दर्य को उसकी कुरूपता को। उसके फूलों को और उसके कांटों को। पतझर को आर बसंत को। जन्म को और मृत्यु को, प्रकाश को और अंधकार को, साधु को और असाधु को। सबको देख—सब कुछ देखें। आखें खुली हों और किसी तथ्य के प्रति

उन्हें बन्द न करें और किसी तथ्य की दूसरों से गृहीत व्याख्या न करें, क्योंकि ऐसी सीखी हुई व्याख्यायें ही स्वयं की जिज्ञासा के आविर्भाव में बाधा बन जाती हैं।

शास्त्र और शब्दों के द्वारा जीवन को देखना न देखने के ही बराबर है। जीवन और स्वयं के बीच सीधा सम्पर्क होने दें। जीवन का आघात स्वयं पर निर्बाध पड़ने दें। स्वयं को जीवन के प्रति खोलें—अशेष भाव से खोलें और देखें। किसी विचार की भूमि पर खड़े होकर न देखें, क्योंकि वह देखना नहीं है। किसी धारणा की बिन्दु पर खड़े होकर अनुभव न करें, क्योंकि वह अनुभव करना ही नहीं है। पक्षपात शून्य–समस्त आग्रहों से मुक्त होकर जो जीवन का अनुभव करता है, वह जीवन के सत्य को जानने की एक तीव्र अभीप्सा से भर जाता है।

सम्यक् दर्शन से गहरी प्यास का जन्म

और न केवल बाहर के प्रति सम्यक् और निष्पक्ष दृष्टि चाहिए, बल्कि भीतर के प्रति और भी ज्यादा चाहिये। स्वयं के चित्त के मार्गों को भी वैसे ही देखना पड़ता है जैसे कि कोई किसी झरने को पहाड़ से झरते देखे या कि पक्षियों को आकाश में उड़ते देखे। क्रोध को और काम को; घृणा को और प्रेम को, मोह को और लोभ को और मूलतः अहंकार को—सबको देखना है। उनका दर्शन ही सत्य के ज्ञान की गहरी प्यास जगाता है।

जीवन के दर्शन से रहस्य का अनुभव होता है। रहस्य से जिज्ञासा जन्मती है और स्वयं के चित्त के दर्शन से बहुत पीड़ा और अज्ञान का अनुभव होता है और उसके अतिक्रमण की अभीप्सा पैदा होती है।

एक बोध कथा

एक साधु मृत्यु के निकट था। शरीर तो मृत्यु में डूब रहा था, लेकिन उसकी आँखों में अपूर्व ज्योति थी। किसी ने उससे पूछा—'मृत्यु में भी आप इतने शांत और आनन्दित हैं?' वह बोला–'मैं जहाँ हूँ, वहाँ मृत्यु नहीं है।' ....और किसी ने पूछा—'आप साधु कैसे हुए? सत्य के खोजी कैसे हुए?' वह बोला—'आँख खोलकर जगत् को देखा और स्वयं को देखा और स्वयं को देखा, तो सत्य को खोजने के अतिरिक्त कोई विकल्प ही नहीं रहा। और जैसे-जैसे सत्य की दिशा में चरण उठे, वैसे-वैसे ही पाया कि जीवन से सारी

असाधुता अपने आप ही बह गयी है। साधु मैं कभी हुआ नहीं, उल्टे साधुता ही मुझ तक आई है।'

आंखें खोलें और देखें !

लेकिन, हम कहेंगे कि क्या हम आंखें खोलकर नहीं देख रहे हैं? आंखें तो हमारी भी खुली हुई दिखाई पड़ती हैं, लेकिन फिर भी वे खुली हुई नहीं हैं। क्योंकि, आंख जब खुलती हैं, तो जीवन की सारी मूर्च्छा टूट जाती है और सारा सम्मोहन नष्ट हो जाता है। आंखें खुली हों, तो पैर स्वयं सत्य की ओर बढ़ने लगते हैं। सत्य की अभीप्सा के अतिरिक्त आंखें खुली होने का और कोई प्रमाण नहीं है।

आंखें खोलकर देखने का क्या अर्थ है? अर्थ है उसपर न रुक जाना, जो कि सामान्यतः दिखाई पड़ रहा है वरन् उस तक प्रवेश करना जो कि दिखाई पड़नेवाले के पीछे छिपा है और दिखाई नहीं पड़ रहा है। जो दृश्य है, वह अदृश्य को छिपाये हुए है। दृश्य, अदृश्य की खोलमात्र है। आवरण ही है। वही सब कुछ नहीं है।

........और मैं मर गया हूं।

गौतम बुद्ध का जन्म हुआ तो ज्योतिषियों ने उनके पिता को कहा कि इस पुत्र के संन्यासी हो जाने की संभावना है। स्वभावतः पिता चिन्तित हुए। यह एक ही उनका पुत्र था। उन्होंने पूछा—'इसे संन्यास से बचाने का क्या उपाय है?' और जो उपाय बताया गया, वह ऐसा था कि जिसके कारण बुद्ध की आंखें बन्द रहें और जीवन के तथ्य उन्हें दिखाई न पड़ सकें। क्योंकि, जो जीवन के तथ्यों को नहीं देख पाता है, वह जीवन के सत्य को जानने की व्याकुलता से नहीं भर सकता है। ऐसा ही किया गया। दुःख, पीड़ा, मृत्यु इनका बुद्ध को दर्शन न हो, ऐसी व्यवस्था की गयी। जीवन के आघातों से उन्हे सुरक्षित रखा गया, क्योंकि आघात विचार पैदा करते हैं। उनके आसपास सुन्दर युवा और युवतियाँ ही आ-जा सकते थे। वृद्ध और रुग्ण व्यक्तियों को उनके पास नहीं ले जाया जाता था। उनके बाग में से कुम्हलाये फूल और पत्ते रात्रि में ही अलग कर दिये जाते थे, ताकि उन्हें किसी भी भांति जीवन के मुरझाने और समाप्त होने का ख्याल न आ सके।

युवा होने तक वे मृत्यु के तथ्य से अपरिचित थे। उन्हें ज्ञात ही नहीं था कि जगत् में मृत्यु भी होती है। लेकिन यही व्यवस्था अंततः उनकी आँख खोलने का कारण बन गयी। बुद्ध के पिता ने मुझसे पूछा होता, तो ऐसी भूल भरी सलाह मैं कभी न देता! चूँकि उन्होंने बुढ़ापे के तथ्य को कभी नहीं जाना था, इसलिए जब जाना, तो वे चौंक गये। और वह आघात इतना तीव्र और गहरा हुआ कि उनकी आँख खुल गयीं। यदि वे बचपन से ही इसके आदी होते, तो सम्भवतः आघात इतना तीव्र और आन्दोलनकारी नहीं हो सकता था।

एक युवक महोत्सव में जाते हुए उन्होंने पहली बार किसी वृद्ध को और पहली बार किसी मृतक की शवयात्रा को देखा। उन्होंने अपने सारथी से पूछा—'यह क्या हो गया है?' सारथी ने कहा—'पहले व्यक्ति वृद्ध होता है फिर मर जाता है।' बुद्ध ने पूछा—'क्या मैं भी ऐसे ही मर जाऊँगा? सारथी ने कहा—'प्रभु कोई भी अपवाद नहीं है। जो जन्मता है, उसे मरना ही होता है।' बुद्ध ने कहा—'रथ वापस लौटा लो। मैं वृद्ध हो गया हूँ और मैं मर गया हूं।'

इसे मैं आँखें खोलकर देखना कहता हूँ।

मित्र, मैं पुनः दोहराता हूँ: इसे मैं आँख खोलकर देखना कहता हूँ।

गहरी संवेदनशीलता वांछनीय

बुद्ध युवा हुए तब तक उनकी आँखें बन्द थीं। हममें से बहुत से बूढ़े हो जाते हैं, फिर भी उनकी आँखें बन्द ही रहती हैं। जीवन के तथ्यों के हम इस भांति आदी हो जाते हैं कि उनका हम पर कोई आघात ही नहीं होता। उनके द्वारा हम पर कोई चोट ही नहीं पड़ती। और आघात न हो, तो विचार कैसे होगा? और आघात न हो तो जागरण असम्भव है। जीवन के प्रति हमारी संवेदनशीलता इतनी कम है कि आघात हमारी निद्रा को तोड़ने में असफल हो जाते हैं। और फिर इस निद्रा को हम बहुत सी शास्त्रीय व्याख्याओं से और भी गहरा निरापद कर लेते हैं। जब कोई मरता है, तो हम कहते हैं—'आत्मा तो अमर है।' आँखें खुली हों और हृदय संवेदनशील हो, तो मृत्यु की प्रत्येक घटना में स्वयं की मृत्यु के दर्शन होंगे ही और उस दर्शन में ही वह आघात है जो कि जीवन को अमृत की खोज में संलग्न करता है।

संवेदनशील चित्त सत्य को जानने को उत्सुक और आकुल हो ही उठता है। गहरी संवेदनशीलता ही धार्मिक चित्त की आधारभूमि है। जड़ता धर्म में नहीं ले जा सकती है। लेकिन हम तो करीब-करीब जड़ की भांति व्यवहार करते हैं। क्या रात्रि में आकाश के तारे आपके प्राणों को झंकृत करते हैं? क्या पतझर में उड़ते सूखे पत्ते आपके हृदय की गहराई में कोई प्रतिध्वनि जगा जाते हैं? क्या पड़ोसी की पीड़ा आपको स्पर्श करती है? क्या राह खड़े वृद्ध भिखारी की आंखों में आपको अपनी ही आंख दिखाई पड़ती है? वीणा के तारों की भांति संवेदनशील हृदय ही जीवन के सुखों-दुःखों, सौंदर्य-असौंदर्य, आंसुओं और आनन्दों के प्रति सजग और सचेत हो पाता है। इस सजगता को ही मैं आंखों को खोलकर देखना कहता हूं। और आंख खुली हों, तो और भी बहुत कुछ दिखाई पड़ता है।

अंधी दुनिया अंधे लोग

हमने सुना है कि महावीर के पास राज्य था, बुद्ध के पास राज्य था। लेकिन वे अपने राज्य को ठोकर मारकर चले गये, फिर भी हम तो राज्य की ही खोज में लगे हैं! जिनके पास मात्र धन है, क्या उनके पास आनन्द भी है? लेकिन हम तो धन की ही खोज में लगे हैं? जिनके पास मात्र पद है, क्या वे शांति में हैं? लेकिन हम तो पदों की ही खोज कर रहे हैं? निश्चय ही हम अंधे होंगे, तो जिन गड्ढों में दूसरे गिरे हैं, हमारी यात्रा भी उन्हीं गड्ढों की ओर क्यों होती? और क्या हमने कभी सोचा है, विचारा है कि महत्वाकांक्षी चित्त आनन्द और शान्ति को कैसे पा सकता है? जहां तृष्णा है, वहां दुःख अपरिहार्य है। वस्तुतः दुःख के सारे बीज तृष्णा में ही तो छिपे होते हैं।

हमारा असली रूप

स्पष्टतः आंखें खुली हों, तो हम स्वयं के चित्त को देखेंगे और जानेंगे। उसकी थोथी अहंता दिखाई पड़ेगी, विनम्रता में भी उसके दर्शन होंगे। हिंसा दिखाई पड़ेगी, तथाकथित अहिंसक आचरण में भी उसकी छाया होगी। घृणा, क्रोध और प्रतिशोध का सतत् दर्शन होगा। लोभ और तृष्णा श्वास-श्वास में अनुभव होगी। वह रूप हमारी वास्तविकता नहीं है जो कि हम दूसरों को दिखाते हैं। थोड़ा ही गहरा देखने से उस व्यक्ति से मिलना होगा

को कि वस्तुतः हम हैं। और उसकी पशुता का दर्शन ही उसे अतिक्रमण करने के लिए पर्याप्त कारण और प्रेरणा बन जाता है।

इस तथाकथित जीवन को उसकी समस्त नग्नता में—बाहर और भीतर उसके समस्त रूपों में देखने से ज्ञात होता है कि हम जिस भवन को अपना निवास समझे हुए हैं, वह लपटों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

आँख खुली और टूटे सपने

और इन लपटों के दर्शन से विचार उठता है कि क्या जीवन यही है? क्या यही है हमारे होने की सार्थकता? क्या यही है हमारे अस्तित्व का अर्थ और अभिप्राय? और स्वयं जिसने इन लपटो को जाना और पहचाना है और उनके ताप को अनुभव किया है और उनकी जलन में से गुजरा है, उसके लिये यह जिज्ञासा मात्र बौद्धिक ऊहापोह नहीं रह जाती है। उसके लिए तो बन जाती है यह जीवन-मरण की समस्या। उसके लिए यह प्रश्न अति गम्भीर हो उठता है। उसके समाधान पर ही अब उसके प्राण निश्चित हो सकते हैं। यह खोज उसके लिए समस्या ही नहीं, संताप बन जाती है।

और स्मरण रहे कि जीवन की समस्या जहाँ एक जीवन्त संताप है, वहीं—उस संताप के निकट ही सत्य भी है। क्योंकि सताप सत्य को जानने के लिए प्राणों को उनकी समग्रता में व्याकुल कर देता है और यह व्याकुलता; एक ऐसे आन्दोलन का प्रारम्भ बन जाती है, जो कि अंततः आत्मक्रान्ति में ले जाती है।

लेकिन, जीवन का संताप स्वयं अनुभव होना चाहिए। वह किसी की शिक्षा का फल नहीं हो सकता है। मैं कह रहा हूँ, इसलिए आप मान लें कि जीवन-गृह में आग लगी है, तो वह अनुभूति झूठी और मिथ्या होगी। और वैसी प्रतीति उस गृह के बाहर आने के लिए या गृह बदलने के लिए आधार नहीं बन सकती है।

मैं किसी घर में ठहरा होऊँ और कोई मुझसे आकर कहे कि भवन में चारों ओर आग लगी है, लेकिन मुझे स्वयं कहीं भी आग दिखाई न पड़ती हो, तो मैं क्या करूँगा? क्या मैं उस घर को छोड़ दूँगा? और यदि छोड़ भी दूँ, तो क्या वह छोड़ना मूर्खतापूर्ण ही नहीं होगा? लेकिन यदि मुझे स्वयं ही दिखाई पड़े कि भवन लपटों से घिरा है, तो क्या मैं बाहर निकलने

के लिए किसी की सलाह लेने जाऊँगा ? या कि बाहर निकलने की सम्यक् विधि खोजने को, शास्त्रों का अध्ययन करने बैठूँगा ? नहीं मित्र, तब तो दर्शन ही कर्म बन जाता है। यह देख लेना ही कि मैं लपटों से घिरा हूँ, बाहर निकलने के सहज और अंतः-प्रेरित कर्म में परिणत हो जाता है।

आँखें बंद हो, तो हम एक निद्रा में होते हैं, एक मूर्च्छा में और एक सम्मोहन में उसके कारण उस सब के प्रति अचेत बने रहते हैं जो कि चारों ओर प्रतिक्षण घटित हो रहा है।

चिता पर चढ़ा हुआ जीवन

आँखें खोलो और देखो ! धर्म में जो उत्सुक होते हैं, वे तो उल्टे आँखें बंद करने का अभ्यास करने लगते हैं। मैं कहता हूं-आँख खोलो और देखो ! क्या आपका भवन अग्नि की भेंट नहीं चढ़ा हुआ है ? क्या जिस भूमि पर आप खड़े हैं, वही आपकी चिता बनने को नहीं है ? हम सब चिता पर चढ़े हुए हैं। चिता की आग प्रतिपल हमें अपने आप में मिलाती जा रही है। थोड़ी देर बाद जिसे हमने जीवन जाना है, वह राख के अतिरिक्त कुछ भी सिद्ध होने को नहीं है।

मानो नहीं जानो !

एक सुबह मैं उठकर बैठा ही था कि कुछ मित्र आ गये। वे मुझे खूब बधाइयां देने लगे। मैंने पूछा बात क्या है ? वे बोले 'आपका जन्मदिन है।' यह सुन खूब हँसी आई और मैंने उनसे कहा—'जो जन्मदिन है, क्या वही मृत्यु दिन भी नहीं है ? क्योकि जन्म के क्षण के बाद जिसे हम जीवन मानते हैं, वह मृत्यु के क्रमिक आगमन के अलावा और क्या है ? जिस दिन पालने पर किसी को रखा जाता है, उसी दिन उसकी कब्र भी खुदनी शुरू हो जाती है।

जन्म जीवन नहीं है, क्योंकि जन्म तो मृत्यु का प्रारम्भ है। 'निश्चय ही जो जीवन है, वह जन्म और मृत्यु दोनों के अतीत ही हो सकता है।'

क्या विचार करने से यह प्रतीति नहीं होती है ? क्या जन्म और मृत्यु के तथ्यों में झाँकने से उनसे तृप्ति होती है ? जो उन्हें जागकर देखता है,

वह उनसे तृप्त नहीं होता है।.... और उसकी अतृप्ति ही वास्तविक जीवन के लिए अभीप्सा बन जाती है।

धर्म की साधना धर्म को मानने से नहीं, वरन् जीवन को जानने से प्रारम्भ होती है। वह विश्वास नहीं, विवेक है। वह दूसरों के द्वारा अनुप्रेरित कामना नहीं, वरन् स्वयं की अंतःसत्ता अभीप्सित जीवन है।

●